



शरीर-श्रम

गांधीजी

संग्राहक

रवीन्द्र केळेकर

अप्रैल, १९६०

मुद्रक और प्रकाशक

जीवणजी डाह्याभाळी देसाळी

नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-१४



अनुक्रमणिका

१. अक पुसुककक कडतुकरी डुरडरव
२. शरीर-शुरडक कानून
३. डकक कर्तवुड
- ॡ. डकक ततुतककन
- ॡ. वुडररडरडें डकक
- ॢ. डुडुडक शुरड
- ॣ. डुरसतकी सडसुडर
- ।. शुरडकी डुरतलषुठर
- ॥. सडरक-सेवरक सडसे अंऑर डुरकर
- ॥०. ऑरखेके सरथ शरीर-शुरड
- ॥१. आशुरडडें शरीर-शुरड
- ॥२. डेहनत नरुडें तुर खरनर डुडु नरुडें
- ॥३. नुकरुरु डुर अवरलडुडन



१. अक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

[गांधीजी अपनी 'आत्मकथा' के अक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव' नामक अध्यायमें अपने पाठकोंको बतलाते हैं कि वे कैसे रस्किनकी पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से बहुत अधिक प्रभावित हुअे, जिसकी अक प्रति सन् १९०४ में जोहानिसबर्गसे डरबनकी यात्रा करते समय अुन्हें अपने दक्षिण अफ्रीकाके सहयोगी श्री अेच. अेस. अेल. पोलाकने पढ़नेके लिअे दी थी।]

अिस पुस्तकको हाथमें लेनेके बाद मैं अिसे छोड़ ही न सका। अिसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिसबर्गसे डरबनका रास्ता लगभग चौबीस घंटोंका था। मुझे सारी रात नींद नहीं आली। मैंने पुस्तकें सूचित विचारोंको अमलमें लानेका अिरादा किया।

अिससे पहले मैंने रस्किनकी अक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्याध्ययनके समयमें पाठ्य-पुस्तकोंके बाहरकी मेरी पढ़ाअी लगभग नहींके बराबर मानी जायगी। कर्मभूमिमें प्रवेश करनेके बाद तो समय बहुत कम बचता था। आज तक भी यही कहा जा सकता है। मेरा पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही कम है। मैं मानता हूं कि अिस अनायास अथवा बरबस पाले गये संयमसे मुझे कोअी हानि नहीं हुअी। बल्कि जो थोड़ी पुस्तकें मैं पढ़ पाया हूं, कहा जा सकता है कि अुन्हें मैं ठीकसे हजम कर सका हूं। अिन पुस्तकोंमें से जिसने मेरे जीवनमें तत्काल महत्त्वके रचनात्मक परिवर्तन कराये, वह 'अन्टु दिस लास्ट' ही कही जा सकती है। बादमें मैंने अुसका गुजराती अनुवाद किया और वह 'सर्वोदय' के नामसे छपा।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्दर गहराअीमें छिपी पड़ी थी, रस्किनके ग्रंथरत्नमें मैंने अुसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। और, अिस कारण अुसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे अुसमें दिये गये विचारों पर अमल कराया। जो मनुष्य हममें सोअी हुअी अुत्तम भावनाओंको जाग्रत करनेकी शक्ति रखता है वह कवि है। सब कवियोंका सब लोगों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सबके अंदर सारी सद्भावनायें समान मात्रामें नहीं होतीं ।

मैं 'सर्वोदय' के सिद्धान्तोंको अिस प्रकार समझा हूं:

१. सबकी भलाअीमें हमारी भलाअी निहित है।



२. वकील और नाअी दोनोंके कामकी कीमत अेकसी होनी चाहिये, क्योंकि आजीविकाका अधिकार सबको अेक समान है।

३. सादा मेहनत-मजदूरीका यानी किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज मैं जानता था। दूसरीको मैं धुंधले रूपमें देखता था। तीसरीका मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीयेकी तरह स्पष्ट दिखा दिया कि पहली चीजमें दूसरी दोनों चीजें समाअी हुअी हैं। सवेरा हुआ और मैं अिन सिद्धान्तोंका अमल करनेके प्रयत्नमें लगा।

आत्मकथा, पृ० २५९-६०; १९५७



२. शरीर-श्रमका कानून

रोटीके लिअे हरअेक मनुष्यको मजदूरी करनी चाहिये, शरीरको (कमरको) झुकाना चाहिये, यह अीश्वरका कानून है। यह मूल खोज टॉल्स्टॉयकी नहीं है, लेकिन अुनसे बहुत कम मशहुर रूसी लेखक टी. अेम. बोन्दरेव्हकी है। टॉल्स्टॉयने अुसे रोशन किया और अपनाया। अिसकी झांकी मेरी आंखें भगवद्गीताके तीसरे अध्यायमें करती हैं। यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरीका अन्न खाता है, अैसा कठिन शाप यज्ञ नहीं करनेवालेको गीतामें दिया गया है। यहां यज्ञका अर्थ शरीरकी मेहनत या रोटीके लिअे मजदूरी ही शोभता है और मेरी रायमें यही मुमकिन है।

जो भी हो, हमारे अिस व्रतका जन्म अिस तरह हुआ है। बुद्धि भी अुस चीजकी ओर हमें ले जाती है। जो मजदूरी नहीं करता अुसे खानेका क्या हक है? बाअिबल कहती है : 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमा और खा'। करोड़पति भी अगर अपने पलंग पर लोटता रहे और अुसके मुंहमें कोअी खाना डाले तब खाये, तो वह ज्यादा समय तक खा नहीं सकेगा; अिसमें अुसको मजा भी नहीं आयेगा। अिसलिअे वह कसरत वगैरा करके भूख पैदा करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। अगर यों किसी न किसी रूपमें शरीरके अंगोंकी कसरत रायरंक सबको करनी ही पड़ती है, तो रोटी पैदा करनेकी कसरत ही सब क्यों न करें ? यह सवाल कुदरती तौर पर अुठता है। किसानको हवाखोरी या कसरत करनेके लिअे कोअी कहता नहीं है और दुनियाके ९० फीसदीसे भी ज्यादा लोगोंका निर्वाह खेती पर होता है। बाकीके दस फीसदी लोग अगर अिनकी नकल करें तो जगतमें कितना सुख, कितनी शांति और कितनी तन्दुरुस्ती फैल जाये? और अगर खेतीके साथ बुद्धि भी मिल जाये तो खेतीसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी मुसीबतें आसानीसे दूर हो जायेंगी। अिसके सिवा, अगर शरीरकी मेहनतके अिस निरपवाद कानूनको सब मानें तो अूंच-नीचका भेद मिट जाय।

आज जहां अूंच-नीचकी गंध भी नहीं थी वहां भी यानी वर्ण-व्यवस्थामें भी वह घुस गअी है। मालिक-मजदूरका भेद सामान्य और स्थायी हो गया है और गरीब धनवानसे जलता है। अगर



सब रोटीके लिअे मजदूरी करें तो अूच-नीचका भेद न रहे; और फिर भी धनिक वर्ग रहेगा तो वह खुदको धनका मालिक नहीं बल्कि अुसका रखवाला या ट्रस्टी मानेगा और अुसका ज्यादातर अुपयोग सिर्फ लोगोंकी सेवाके लिअे ही करेगा।

जिसे अहिंसाका पालन करना है, सत्यकी भक्ति करनी है, ब्रह्मचर्यको कुदरती बनाना है, अुसके लिअे तो शरीरकी मेहनत रामबाण-सी हो जाती है। यह मेहनत सचमुच तो खेतीमें ही होती है। लेकिन सब खेती नहीं कर सकते, अैसी आज तो हालत है ही। अिसलिअे खेतीके आदर्शको खयालमें रखकर खेतीके अेवजमें आदमी भले दूसरी मजदूरी करे - जैसे कताअी, बुनाअी, बढअीगिरी, लुहारी वगैरा वगैरा। सबको खुदके भंगी तो बनना ही चाहिये। जो खाता है वह टट्टी तो फिरेगा ही। जो टट्टी फिरता है वही अपनी टट्टी को जमीनमें गाड़ दे यह अुत्तम रिवाज है। अगर यह नहीं हो सके तो प्रत्येक कुटुम्ब अपना यह फर्ज अदा करे।

जिस समाजमें भंगीका अलग पेशा माना गया है अुसमें कोअी बड़ा दोष पैठ गया है, अैसा मुझे तो बरसोंसे लगता रहा है। अिस जरूरी और तन्दुरुस्ती बढानेवाले कामको सबसे नीचा काम पहले-पहल किसने माना, अिसका अितिहास हमारे पास नहीं है। पर जिसने भी माना अुसने हम पर अुपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी हैं यह भावना हमारे मनमें बचपनसे ही जम जानी चाहिये; और अुसका सबसे आसान तरीका यह है कि जो लोग समझ गये हैं वे शरीरकी मेहनतका आरम्भ अिस पाखाना-सफाअीसे करें। जो समझ-बूझकर, ज्ञानपूर्वक यह करेगा, वह अुसी क्षणसे धर्मको निराले रूपमें और सही तरीकेसे समझने लगेगा।

मंगल-प्रभात, पृ० ४१-४४; १९५९



३. यज्ञका कर्तव्य

हर स्त्री-पुरुष शरीरसे मेहनत करे, जिसे आश्रम अपना धर्म मानता है। जिस अस्त्रकी जानकारी या सूझ मुझे टॉल्स्टॉयके एक लेखसे हुआ। उन्होंने रूसके एक लेखक बोन्दरेव्हेके बारेमें लिखते हुआ बताया कि रोटी-श्रमकी जरूरत जिस लेखककी जिस युगकी बहुत बड़ी खोजोंमें से एक थी। उसका मतलब यह है कि हर तन्दुरुस्त आदमीको अपने गुजारेके लायक शरीर-श्रम करना ही चाहिये। मनुष्यको अपनी बुद्धिकी शक्तिका उपयोग आजीविका प्राप्त करने या उससे भी ज्यादा प्राप्त करनेके लिये नहीं, बल्कि सेवाके लिये, परोपकारके लिये करना चाहिये। जिस नियमका पालन सारी दुनिया करने लगे, तो सहज ही सब बराबर हो जायं, कोअी भूखों न मरे और जगत बहुतसे पापोंसे बच जाय।

यह संभव है कि जिस स्वर्ण-नियमका अमल सारी दुनिया कभी न कर सके। नियमको बिना जाने-बूझे तो करोड़ों लोग उसका पालन जबरदस्तीसे करते हैं। उनके मन उसके विरुद्ध चलते हैं, इसीलिये वे दुःख पाते हैं और उनकी मेहनतसे जितना लाभ दुनियाको होना चाहिये उतना नहीं होता। जो लोग जिस नियमको समझते हैं, उन्हें जिस ज्ञानसे जिस नियमका पालन करनेका प्रोत्साहन मिलता है। नियमका पालन करनेवाले पर उसका चमत्कारी असर होता है; क्योंकि उसे परम शान्ति मिलती है, उसकी सेवा करनेकी शक्ति बढ़ती है और उसकी तन्दुरुस्ती भी बढ़ती है।

सत्याग्रह आश्रमका इतिहास, पृ. ४०; १९५९

मैं यह सुझानेका साहस करता हूँ कि गीताके तीसरे अध्यायके १२ वें और १३ वें श्लोकोंमें 'यज्ञ' शब्दका एक ही अर्थ हो सकता है। १४ वां श्लोक उसे बिलकुल स्पष्ट कर देता है:

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्न-संभवः।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म-समुद्भवः॥

गीता, अ. ३, श्लो. १४



अन्नसे सब प्राणी अुत्पन्न होते हैं। वर्षासे अन्न अुत्पन्न होता है। यज्ञसे वर्षा होती है। और यज्ञकी अुत्पत्ति कर्मसे होती है।

अतअेव मेरी रायमें यहां न केवल शरीर-श्रमके सिद्धांतका प्रति-पादन किया गया है, बल्कि श्रमके अिस सिद्धांतकी स्थापना भी की गयी है कि जब श्रम केवल अपने लिये न होकर सबके लिये होता है, तभी वह यज्ञका रूप लेता है। वर्षा बड़े बड़े बौद्धिक कार्योंसे नहीं होती है, परन्तु केवल श्रमके जरिये ही होती है। यह सर्व-सम्मत वैज्ञानिक तथ्य है कि जहां जंगलोंके पेड़ काट दिये जाते हैं वहां वर्षा बन्द हो जाती है; और जहां पेड़ लगाये जाते हैं वहां वर्षा खिंच आती है और वनस्पतिकी वृद्धिके साथ ही वर्षाके पानीकी मात्रा भी बढ़ जाती है। कुदरतके कानूनोंकी खोज होना अभी बाकी है। हमने केवल अूपरी सतहको ही छुआ है। शरीर-श्रमके बन्द हो जानेसे जो नैतिक और शारीरिक बुरे परिणाम होते हैं अुन सबको भला कौन जानता है?

यंग अिडिया, १५-१०-१९२५; पृ० ३५५

गीतामें कहा गया है कि "आरम्भमें यज्ञके साथ-साथ प्रजाकी अुत्पन्न करके ब्रह्माने अुससे कहा : 'अिस यज्ञके द्वारा तुम्हारी समृद्धि हो; यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु हो, अर्थात् यह तुम्हारे अिच्छित फलोंका देनेवाला हो।' जो यह यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरीका अन्न खाता है।" "तू अपने पसीनेकी कमायी खा," यह बाअिबलका वचन है। यज्ञ अनेक प्रकारके हो सकते हैं। अुनमें से अेक श्रमयज्ञ भी हो सकता है। यदि सब लोग अपने ही परिश्रमकी कमायी खावें, तो दुनियामें अन्नकी कमी न रहे और सबको अवकाशका काफी समय भी मिले। तब न तो किसीको जनसंख्याकी वृद्धिकी शिकायत रहे, न कोयी बीमारी आवे और न मनुष्यको कोयी कष्ट या क्लेश ही सतावे। यह श्रमयज्ञ अुच्चसे अुच्च प्रकारका यज्ञ होगा। अिसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अपने शरीर या बुद्धिके द्वारा और भी अनेक काम करेंगे, पर अुनका वह सारा श्रम लोक-कल्याणके लिये प्रेममूलक श्रम होगा। अुस अवस्थामें न कोयी राव होगा न कोयी रंक, न कोयी अुंचा होगा न कोयी नीचा, न कोयी स्पृश्य रहेगा न कोयी अस्पृश्य।



भले ही यह अेक अलभ्य आदर्श हो, पर अिस कारणसे हर्में अपना प्रयत्न बन्द कर देनेकी जरूरत नहीं है। यज्ञके संपूर्ण नियमको अर्थात् अपने 'जीवनके नियम' को पूरा किये बिना भी अगर हम अपने नित्यके निर्वाहके लिये पर्याप्त शारीरिक श्रम करें, तो भी अुस आदर्शके बहुत कुछ निकट पहुंच ही जायंगे।

यदि हम अैसा करेंगे तो हमारी आवश्यकतायें बहुत कम हो जायंगी और हमारा भोजन भी सादा बन जायगा। तब हम जीनेके लिये खायेंगे, न कि खानेके लिये जियेंगे। अिस बातकी यथार्थतामें जिसे शंका हो वह अपने परिश्रमकी कमाअी खानेका प्रयत्न करे। अपने पसीनेकी कमाअी खानेमें अुसे कुछ और ही स्वाद मिलेगा, अुसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा और अुसे यह मालूम हो जायगा कि जो बहुतसी विलासकी चीजें अुसने अपने अुपर लाद रखी थीं, वे सब बिलकुल फिजूल थीं।

हरिजनसेवक, ५-७-१९३५; पृ० १६०



४. यज्ञका तत्त्वज्ञान

यज्ञका अर्थ है लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकारके फलकी आकांक्षा रखे बिना दूसरोंके हितके लिअे किया गया कर्म। 'कर्म' शब्दका अुपयोग यहां व्यापकसे व्यापक अर्थमें लेना चाहिये; अुसमें कायिक, मानसिक और वाचिक - प्रत्येक प्रकारके कर्मका समावेश माना जाना चाहिये। 'दूसरों' से केवल मनुष्य-वर्गका नहीं बल्कि जीवमात्रका आशय है।

यज्ञकी अुपरोक्त व्याख्याके अनुसार जिस कर्मसे ज्यादासे ज्यादा जीवोंका अधिकसे अधिक विशाल क्षेत्रमें कल्याण हो और जिसे ज्यादासे ज्यादा स्त्री-पुरुष बहुत आसानीसे कर सकें, अुस कर्मको अुत्तम यज्ञ कहा जायगा। अिसलिअे तथाकथित अुच्चतर ध्येयके लिअे भी किसी दूसरेका अकल्याण सोचना या करना महायज्ञ होना तो दूर, यज्ञ भी नहीं है। और गीता सिखाती है तथा हमारा अनुभव बतलाता है कि यज्ञरूप कर्मके सिवा दूसरे कर्म मनुष्यको बंधनमें बांधते हैं।

अैसे यज्ञके अभावमें जगत अेक क्षणके लिअे भी टिक नहीं सकता और अिसीलियअे गीता दूसरे अध्यायमें ज्ञानका विवेचन करनेके बाद तीसरे अध्यायमें अुसकी प्राप्तिके अुपायोंका वर्णन करती है और स्पष्ट शब्दोंमें कहती है कि यज्ञके साथ ही प्रजाकी सृष्टि हुअी है। अिसलिअे यह शरीर हमें सारी सृष्टिकी सेवाके लिअे ही दिया गया है। और यही कारण है कि गीता कहती है: 'जो यज्ञ किये बिना खाता है वह चोरीका अन्न खाता है।' शुद्ध जीवन जीनेकी अिच्छा रखनेवाले व्यक्तिका हरअेक कर्म यज्ञरूप होना चाहिये।

हमारा जन्म यज्ञके साथ हुआ है, अिसलिअे हमारी स्थिति जीवन-भर अृणीकी रहती है और अिसलिअे हम हमेशा जगतकी सेवा करनेके लिअे बंधे हुअे हैं। और जिस तरह कोअी गुलाम अपने स्वामीसे - जिसकी वह सेवा करता है—अन्न-वस्त्रादि पाता है, अुसी तरह हमें भी जगतका स्वामी जो कुछ दे अुसे आभारपूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिये। अुससे हमें जो कुछ मिले वह अुसका हमें दिया हुआ दान है; क्योकि अृणीकी तरह अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिअे हम अुसके अेवजमें कुछ भी पानेके अधिकारी नहीं हैं। अिसलिअे यदि हमें वह न मिले तो हम अपने



स्वामीको दोष नहीं दे सकते। हमारा शरीर अुसका है; अुसे वह अपनी अिच्छाके अनुसार चाहे रखे, चाहे न रखे।

यह स्थिति अैसी नहीं है कि अुसकी शिकायत की जाय या अुस पर खेद किया जाय। अुलटे, यदि विधाताके विधानमें हमारा अपना स्थान हम समझ लें तो हमें वह स्थिति स्वाभाविक, सुखद और अिष्ट मालूम होगी। अिस परम सुखका अनुभव करनेके लिये अविचल श्रद्धाकी आवश्यकता है। 'अपने विषयमें कोअी चिंता मत करो, सब चिंतार्ये परमेश्वरको सौंप दो'—यह आदेश सब धर्मोंमें दिया गया दीखता है।

अिससे किसीको डरनेका कोअी कारण नहीं है। जो स्वच्छ मनसे सेवाकार्यमें लग जाता है अुसे अुसकी आवश्यकता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती जाती है और अुसकी श्रद्धा भी अुसी प्रमाणमें बढ़ती जाती है। जो स्वार्थ छोड़नेके लिये और मनुष्य-जन्मके साथ मिले हुअे अिस कर्तव्यका पालन करनेके लिये तैयार नहीं है, वह सेवामार्ग पर नहीं चल सकता। जाने-अनजाने हम सब कुछ-न-कुछ निःस्वार्थ सेवा करते ही हैं। यही सेवा हम विचारपूर्वक करने लगे तो हमारी पारमार्थिक सेवाकी वृत्ति अुत्तरोत्तर बढ़ती जाये; और न केवल हमें सच्चे सुखकी प्राप्ति हो, परन्तु जगतका भी कल्याण हो।

फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० ५३-५६; १९५७



५. व्यवहारमें यज्ञ

दिनके चौबीसों घण्टे कर्तव्यका पालन करना या सेवा करना यज्ञ है। निष्काम सेवा करना जिस प्रकार दूसरों पर नहीं बल्कि स्वयं अपने पर कृपा करना है, उसी प्रकार जब हम अृणका भुगतान करते हैं तो हम अपनी ही सेवा करते हैं, अपने बोझको हलका करते हैं और अपने कर्तव्यको पूरा करते हैं। जिसके सिवा, न केवल भले लोग बल्कि हम सब अपनी साधन-सामग्रीको मानव-जातिकी सेवामें लगानेके कर्तव्यसे बंधे हुए हैं। और यदि ऐसा कानून है—जैसा कि वह स्पष्ट रूपमें है ही — तो जीवनमें फिर भोगका कोआी स्थान नहीं रहता और उसका स्थान त्याग ले लेता है। त्यागका कर्तव्य ही मानव-जातिकी विशेषता है; पशुसे उसके भेदका सूचक है।

लेकिन त्यागका अर्थ यहां संसारको छोड़कर अरण्यमें वास करना नहीं है। उसका अर्थ यह है कि जीवनकी तमाम प्रवृत्तियोंमें त्यागकी भावना होनी चाहिये। कोआी गृहस्थ जीवनको भोगरूप न मानकर कर्तव्यरूप माने, तो जिससे उसका गृहस्थपन मिट नहीं जाता। यज्ञार्थ व्यापार करनेवाला व्यापारी करोड़ोंका व्यापार करते हुए भी लोक-सेवाका ही विचार करेगा। वह किसीको धोखा नहीं देगा, सट्टा नहीं करेगा, सादगीसे रहेगा, किसी जीवको कष्ट नहीं देगा और किसीका नुकसान करनेके बजाय खुद करोड़ोंका नुकसान सह लेगा। कोआी यह कहकर जिस बातकी हंसी न उड़ाये कि ऐसा व्यापारी केवल मेरी कल्पनामें ही है। दुनियाका सौभाग्य है कि ऐसे व्यापारी पूर्वमें भी हैं और पश्चिममें भी हैं। यह सच है कि ऐसे व्यापारी अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं, लेकिन यदि अुक्त आदर्शको प्रगट करनेवाला अेक भी जीवित नमूना हो तो फिर उसे काल्पनिक नहीं कह सकते। और यदि हम जिस प्रश्नकी गहराआीमें जायें तो जीवनके हर क्षेत्रमें हमें ऐसे मनुष्य मिलेंगे जो समर्पणका जीवन बिताते हैं। जिसमें सन्देह नहीं कि ऐसे याज्ञिक अपना धंधा करते हुए अपनी आजीविका भी कमाते हैं। लेकिन वे धंधा आजीविकाके लिये नहीं करते, आजीविका अुनके धंधेका गौण फल है।

यज्ञमय जीवन कलाकी पराकाष्ठा है; उसीमें सच्चा रस और सच्चा आनन्द है। जो यज्ञ बोझरूप मालूम हो वह यज्ञ नहीं है। जिस त्यागसे कष्ट मालूम हो वह त्याग नहीं है। भोग नाशकी



ओर ले जाता है और त्याग अमरताकी ओर। रस कोअी स्वतंत्र वस्तु नहीं है। वह तो जीवनके प्रति हमारे रुख पर निर्भर करता है। किसीको नाटकके परदों पर चित्रित दृश्योंमें रस मिलता, है, तो दूसरेको आकाशमें प्रगट होनेवाले नित्य-नये दृश्योंमें। अिसलिअे रस वैयक्तिक और राष्ट्रीय तालीमका विषय है। हमें बचपनमें जिन चीजोंमें रस लेना सिखाया गया हो अुनमें ही हमें रस मिलता है। और किसी अेक राष्ट्रकी प्रजाको जो वस्तु रसमय मालूम होती है, वही किसी दूसरे राष्ट्रकी प्रजाको रसहीन मालूम होती है। अिस बातके अुदाहरण तो आसानीसे दिये जा सकते हैं।

फिर, यज्ञ करनेवाले कअी सेवक अैसा मानते हैं कि हम निष्काम-भावसे सेवा करते हैं, अिसलिअे हमें लोगोंसे जरूरी और बहुतसी गैर-जरूरी चीजें भी लेनेकी छूट है। यह विचार सेवकके मनमें ज्यों ही आता है त्यों ही वह सेवक नहीं रह जाता; तब वह अत्याचारी शासक बन जाता है।

जो सेवा करना चाहता हो अुसे अपनी सुविधाओंका विचार नहीं करना चाहिये। अपनी सुविधाओंका विचार तो वह अपने स्वामीको—अीश्वरको—सौंप देता है। अीश्वरकी अिच्छा होगी तो वह देगा, न होगी तो नहीं देगा। अिसलिअे सेवक जो कुछ अुसे मिले सो सब अपने अुपयोगके लिअे नहीं रख लेगा; अपने लिअे वह अुसमें से अुतना ही लेगा जितनेकी अुसे सचमुच जरूरत है। बाकीका वह त्याग करेगा। अुसे असुविधायें आठानी पड़ें तो भी वह शांत रहेगा, क्रोध नहीं करेगा और अपना चित्त स्वस्थ रखेगा। अुसकी सेवाका पुरस्कार, सद्गुणकी तरह, सेवा करनेका सुख ही है और अुसीमें वह सन्तोष मानेगा।

अिसके सिवा, सेवाकार्यमें किसी तरहकी लापरवाही या देर नहीं चल सकती। जो आदमी यह समझता है कि सावधानी और परिश्रमकी आवश्यकता तो सिर्फ अपना व्यक्तिगत कार्य करनेमें है, निःशुल्क किया जानेवाला सार्वजनिक कार्य अपनी सुविधाके अनुसार जब करना हो तब और जिस तरह करना हो अुस तरह किया जा सकता है, कहना चाहिये कि वह यज्ञका क-ख-ग भी नहीं जानता। दूसरोंकी स्वेच्छापूर्वक की जानेवाली सेवा अपनी पूरी शक्ति लगाकर की जानी



चाहिये; यह सेवा पहले और अपना निजी कार्य बादमें — यही सेवकका सूत्र होना चाहिये। सारांश यह कि शुद्ध यज्ञ करनेवालेका अपना कुछ बाकी नहीं रहता; वह सब कृष्णार्पण कर देता है।

फ्रॉम यरवडा मन्दिर, पृ० ५७-६०; १९५७

प्रश्न — जिसे टॉल्स्टॉय 'रोटीके लिअे श्रम करना' कहते हैं, अुसके बारेमें आपका क्या अभिप्राय है? क्या आप शरीर-श्रम करके अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं?

उत्तर— सच पूछा जाय तो 'रोटीके लिअे श्रम करना' ये शब्द टॉल्स्टॉयके हैं ही नहीं। अुन्होंने दूसरे अेक रूसी लेखक बोन्दरेव्हसे अुन्हें ग्रहण किया था, और अुनका अर्थ यह है कि हरअेकको रोटी पानेके लिअे काफी शारीरिक मेहनत करनी चाहिये। अिसलिअे आजीविकाका विशाल अर्थ करने पर यह आवश्यक नहीं है कि शारीरिक मेहनत करके ही आजीविका प्राप्त की जाय। लेकिन हर आदमीको कुछ न कुछ अपयोगी शरीर-श्रम अवश्य करना चाहिये। अभी तो मैं शरीर-श्रम सिर्फ कातनेमें ही करता हूं। यह तो शरीर-श्रमका अेक प्रतीकमात्र है। मैं काफी शरीर-श्रम नहीं कर रहा हूं। और यह भी अेक कारण है कि मैं अपनेको मित्रोंके दान पर जीनेवाला कहता हूं। लेकिन मैं यह भी मानता हूं कि हरअेक राष्ट्रमें अैसे मनुष्योंकी आवश्यकता है, जो अपना शरीर, मन और आत्मा सब कुछ राष्ट्रको अर्पण कर देते हैं और जिन्हें अपनी आजीविकाके लिअे दूसरे मनुष्यों पर अर्थात् अीश्वर पर आधार रखना पड़ता है।

हिन्दी नवजीवन, ५-११-१९२५; पृ० ९५



६. बौद्धिक श्रम

मनुष्य अपने बौद्धिक श्रमकी कमायी क्यों न खाये ? नहीं, यह ठीक नहीं है। शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्ति शारीरिक श्रमसे ही होनी चाहिये।

केवल मस्तिष्कका, अर्थात् बौद्धिक, श्रम तो आत्माके प्रीत्यर्थ है और वह स्वतः संतोषरूप है। अुसमें पारिश्रमिक मिलनेकी अिच्छा नहीं करनी चाहिये। अुस आदर्श अवस्थामें डॉक्टर, वकील आदि पूर्णतः समाजके हितके लिअे ही काम करेंगे, अपने लिअे नहीं। शारीरिक श्रमके नियम पर चलनेसे समाजमें अेक शांतिमय क्रांति पैदा होगी। जीवन-संग्रामके स्थान पर पारस्परिक सेवाकी प्रतिस्पर्धा स्थापित करनेमें मनुष्यकी विजय होगी। पाशविक नियमका स्थान मानवीय नियम ले लेगा।

हरिजनसेवक, ५-७-१९३५; पृ० १६०

मुझे गलत नहीं समझा जाये । मैं बौद्धिक श्रमके मूल्यकी अवगणना नहीं करता हूं; लेकिन बौद्धिक श्रम कितनी ही मात्रामें क्यों न किया जाय, अुससे शरीर-श्रमकी थोड़ी भी क्षतिपूर्ति नहीं होती, जो कि हममेंसे हरअेक सबकी भलायीके लिअे करनेको पैदा हुआ है। बौद्धिक श्रम शरीर-श्रमसे निश्चित रूपमें श्रेष्ठ हो सकता है, अकसर होता है, लेकिन वह शरीर-श्रमका स्थान कभी नहीं लेता और न कभी ले सकता है; जैसे बौद्धिक भोजन हम जो अन्न खाते हैं अुसकी अपेक्षा कहीं ज्यादा अुत्तम है, परन्तु वह अन्नका स्थान कभी नहीं ले सकता। सचमुच, पृथ्वीकी अुपजके अभावमें बुद्धिकी अुपज होना असंभव है।

यंग अिडिया, १५-१०-१९२५; पृ० ३५५-५६

प्रश्न— हम किसी रवीन्द्रनाथ या रमनके शरीर-श्रम करके ही रोटी कमाने पर जोर क्यों दें? क्या यह अुनकी दिमागी ताकतकी निरी बरबादी न होगी? दिमागी काम करनेवालोंको अंग-मेहनत करने-वालोंके बराबर ही क्यों न समझा जाय; क्योंकि दोनों ही समाजको फायदा पहुंचानेवाला काम करते हैं?



अुत्तर — दिमागी काम भी अपना महत्त्व रखता है और जीवनमें अुसका निश्चित स्थान है। लेकिन मैं तो शरीर-श्रमकी जरूरत पर जोर देता हूं। मेरा यह दावा है कि अुस फर्जसे किसी भी मनुष्यको छुटकारा नहीं मिलना चाहिये। अिससे मनुष्यके दिमागी कामकी अुन्नति ही होगी। मैं तो यहां तक कहनेकी हिम्मत करता हूं कि पुराने जमानेमें हिन्दुस्तानके ब्राह्मण बौद्धिक और शारीरिक दोनों काम करते थे। वे चाहे न भी करते हों, लेकिन आज तो शारीरिक कामकी जरूरत सिद्ध हो चुकी है। अिस सिलसिलेमें मैं आपको टॉल्स्टॉयके जीवनका हवाला देते हुअे यह बताना चाहूंगा कि अुन्होंने रूसी किसान बोन्दरेव्हके शारीरिक कामके सिद्धान्तको किस प्रकार मशहूर किया।

हरिजनसेवक, २३-२-१९४७; पृ० २८

“तो श्रम और संस्कृतिको क्या हम अलग नहीं कर सकते?”

“नहीं, प्राचीन रोमवासियोंने अैसा करनेका प्रयत्न किया था, पर वे बुरी तरह असफल हुअे। बिना श्रमकी संस्कृति या वह संस्कृति जो श्रमका फल नहीं है, अेक रोमन कैथलिक लेखकके अनुसार, नाशकारक ही है। रोमनिवासी भोग-विलासमें पड़कर नष्ट हो गये, अुनकी संस्कृतिका नाम-निशान भी नहीं रहा। सिर्फ लिख और पढ़कर या सारे दिन व्याख्यान देकर मनुष्य अपनी मानसिक शक्तियोंको विकसित नहीं कर सकता। मैंने जितना कुछ पढ़ा है वह जेलमें मिली हुअी फुरसतके वक्तमें पढ़ा है। अुस पढ़ाअीसे मुझे अिसीलिअे लाभ हुआ कि मैंने यों ही अूट-पटांग तरीकेसे नहीं, बल्कि किसी प्रयोजनसे ही पढ़ा था। हालांकि मैंने लगातार आठ आठ घंटे महीनों शारीरिक श्रम किया है, तो भी मैं समझता हूं कि मेरी मानसिक शक्ति अुससे कुछ कम नहीं हुअी। मैं अकसर दिनमें चालीस चालीस मील चला हूं, तब भी मुझे कोअी शिथिलता मालूम नहीं हुअी।”

“लेकिन आपकी तो मानसिक शक्ति ही अिस प्रकारकी है।”

“नहीं, यह बात नहीं है। आपको मालूम नहीं कि मैं स्कूलमें और अिग्लैण्डमें भी अेक अौसत दरजेका विद्यार्थी था। किसी सभा-सोसायटी या निरामिषाहारियोंकी जमात तकमें बोलनेका मेरा साहस नहीं होता था। आप यह कल्पना न कर बैठें कि अीश्वरने मुझे कोअी



असाधारण शक्ति दी है। मेरा खयाल है कि अश्वरने अुस समय मुझे बहुत बोलनेकी शक्ति न देकर अच्छा ही किया । आपको जानना चाहिये कि हम लोगोंमें सबसे कम अगर किसीने पढ़ा है तो वह मैं हूं।”

हरिजनसेवक, १-८-१९३६; पृ० १९२

अेक मुलाकातीने गांधीजीसे पूछा कि कर्मयोग पर आपका अनुचित आग्रह भले न हो, पर क्या आप अुस पर जरूरतसे ज्यादा जोर नहीं दे रहे हैं? गांधीजीने अिसका यह जवाब दिया:

“नहीं, यह बात बिलकुल नहीं है; मैंने जो भी कहा है अुसका हमेशा वही अर्थ लिया है। अिसमें कोअी अत्युक्ति नहीं है। कर्मयोग पर जरूरतसे ज्यादा जोर देनेकी बात तो कभी हो ही नहीं सकती। मैं तो गीताके सिखाये हुअे सन्देशको ही दोहरा रहा हूं, जिसमें भगवान कृष्णने कहा है:

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

अर्थात् मैं सतत जाग्रत रहकर कर्म न करूं, तो सारे मनुष्य मेरा अनुकरण करने लूंग जायंगे। क्या मैंने व्यवसायी लोगोंसे यह प्रार्थना नहीं की कि वे खुद चरखा चलाकर हमारे तमाम देशवासियोंके सामने अेक सुन्दर अुदाहरण रखें?”

“भगवान बुद्धकी तरह आपको कोअी मनुष्य मिले, तो क्या अुससे भी आप यही बात कहेंगे?”

“अवश्य, अिसमें मुझे जरा भी हिचकिचाहट नहीं होगी।”

“तो फिर तुकाराम और ज्ञानदेव जैसे महान संतोंके विषयमें आप क्या कहेंगे?”

“अुनके सम्बन्धमें विवेचन करनेवाला मैं होत कौन हूं?”

“पर बुद्धके सम्बन्धमें आप अैसा करेंगे?”



“अैसा मैने कभी नहीं कहा। मैने तो सिफ यह कहा है कि अगर बुद्धकी कोटिके किसी मनुष्यसे प्रत्यक्ष मिलनेका मुझे सद्भाग्य प्राप्त हो, तो मैने अुससे यह कहनेमें जरा भी संकोच न करूंगा कि वह ध्यानयोगके स्थान पर कर्मयोगकी पुष्टि करे। अिन महान संतोंसे यदि मेरा मिलना हो, तो अिनसे भी मैं यही बात कहूंगा।”

हरिजनसेवक, २-११-१९३५; पृ० २९८-९९



७. फुरसतकी समस्या

एक मित्रने गांधीजीसे पूछा : “लोगोंको फुरसतका समय मिलना चाहिये या नहीं, अिसका तो आप खयाल ही नहीं करते । गरीब लोग बहुत ज्यादा मेहनत-मशक्कत करते रहेंगे, तो अुन्हें मानसिक विचार द्वारा बुद्धिको बढ़ाने और मनोरंजन द्वारा आनन्द प्राप्त करनेके लिअे समय ही नहीं मिलेगा। पर आप तो अुन्हें और ज्यादा काम करनेकी ही शिक्षा दे रहे हैं।”

“सचमुच? मैं जिन लोगोंके बारेमें सोच रहा हूं, अुनके पास तो अितनी फुरसत है कि अुन बेचारोंकी समझमें ही नहीं आता कि अुसका क्या अुपयोग करें। अिस फुरसतके ही कारण अुनमें अैसी सुस्ती आ गयी है, जिसने अुन्हें निर्जीव पत्थरके समान जड़ बना दिया है। अुनमें अितनी जड़ता आ गयी है कि कितने ही लोग तो जरा-सा हिलना-डुलना भी नहीं चाहते।”

“जहां जरूरत हो वहां आप लोगोंको जरूर काम पर लगाअिये। पर आप तो अुनसे अपने हाथों अपने चावल और अनाजकी कुटाअी-पिसाअी करनेके लिअे भी कहते हैं। क्या यह अुनसे सूखा, नीरस काम करानेकी बात नहीं है?”

“अुन्हें आलस्यमें अपना समय बिताना जितना नीरस मालूम होता है अुससे ज्यादा नीरस यह काम नहीं है। और जब वे यह समझ जायेंगे कि अिससे हमें न सिर्फ कुछ पैसोंकी कमाअी ही हो जाती है, बल्कि अिससे हमारी और हमारे देशवासियोंकी तन्दुरुस्ती भी ठीक रहती है, तो अुन्हें यह काम नीरस नहीं लगेगा। आधुनिक कल-कारखानोंमें काम करनेसे ज्यादा नीरस तो निश्चय ही यह काम नहीं है। कोअी काम कितना ही नीरस क्यों न हो, अगर मनुष्यको अुसमें यह समझनेका आनन्द मिल सकता हो कि मैंने कुछ निर्माण किया है, तो अुसे वह नीरस नहीं लगेगा। आप किसी जूतोंके कारखानेमें जाअिये। वहां कुछ आदमी जूतोंके तले बना रहे होंगे, कुछ अुपरी हिस्से और कुछ अन्य काम कर रहे होंगे। वह काम नीरस मालूम देगा, क्योंकि वे लोग बुद्धि लगाकर काम नहीं करते। लेकिन जो मोची या चमार स्वयं पूरा जूता बनाता है अुसे अपना काम जरा भी नीरस नहीं मालूम पड़ेगा । क्योंकि अुसके काम पर अुसकी कुशलताकी छाप होगी और अुसे अिस बातका आनन्द होगा कि अपने हाथों मैंने कोअी चीज बनाअी है। कौन काम किस



भावनासे किया जाता है, जिसका बहुत असर पड़ता है। अपने व्यवहारके लिये पानी भरने और लकड़ी चीरनेमें मुझे कोई आपत्ति न होगी, बशर्ते कि किसीकी जोर-जबरदस्तीसे नहीं बल्कि अपनी बुद्धिसे सोच-समझकर मैं ऐसा करूं। कोई भी श्रम क्यों न हो, अगर वह बुद्धिपूर्वक और किसी अंचे अद्देश्यको सामने रखकर किया जाय तो वह उत्पादक बन जाता है और उससे आनन्द भी प्राप्त होता है।”

“लेकिन जब आप सारे दिन मनुष्यके शारीरिक श्रम करते रहने पर ही जोर देते हैं, तब क्या उसकी बुद्धिको जड़ बनानेका जोखिम आप अपने ऊपर नहीं ले रहे हैं? आप दिनभरमें कितने घंटेका शारीरिक श्रम आवश्यक समझते हैं?”

“मुझे खुदको तो आठ घंटे काम करनेमें कोई आपत्ति नहीं होगी।”

“मैं आपकी बात नहीं करता। आप तो आठ घंटे चरखा कातकर भी आनन्द प्राप्त कर सकते हैं, यह मैं जानता हूं। पर आपकी बात तो अपवादरूप है। क्योंकि आपमें तो अितनी बुद्धि और उत्पादक शक्ति है कि बाकीके समयमें भी आप उनका बहुत कुछ उपयोग कर सकते हैं।”

“नहीं, मैं तो चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति आठ घंटे मेहनत करके आनन्द प्राप्त करे। सब कुछ काम करनेकी भावना पर निभेर है। आठ घंटे लगनके साथ शुद्ध शारीरिक श्रम करनेके बाद भी बौद्धिक कामोंके लिये काफी समय बच रहता है। मेरा अद्देश्य तो जड़ता और आलस्यको दूर करना है। जब मैं संसारको यह कह सकूंगा कि भारतका हरअेक ग्रामवासी अपने पसीनेसे २० रुपया महीना कमा रहा है, तब मुझे परम संतोष प्राप्त होगा।”

हरिजनसेवक, २२-३-१९३५; पृ. ३३-३४

कुछ समय पहले मैंने श्री अल. पी. जैक्सकी ‘फुरसतके समय’ की यह परिभाषा दी थी: “मनुष्यके जीवनका वह भाग जिसमें उसकी आत्मा पर अधिकार जमानेके लिये घोर देवासुर-संग्राम होता है,” और उनके दिये हुयी आंकड़ों परसे यह दिखानेका प्रयत्न किया था कि फुरसतके समयका विज्ञान और कला कितनी कठिन है। श्री बरट्रैण्ड रसेल, जो प्रत्येक नागरिकके लिये काफी फुरसतका समय निश्चित करा देनेके लिये बहुत चिन्तित हैं, सिफे चार घंटेका शरीर-



श्रम रखना चाहते हैं। लेकिन उस दिन गांधीजीसे बात करते हुए एक आदरणीय मित्रने आश्चर्यचकित होकर कहा: “क्या फुरसतके समयका प्रश्न सचमुच अितना मुश्किल है? आठ घंटे रोजके शारीरिक श्रम पर आप क्यों जोर देते हैं? एक सुव्यवस्थित समाजमें क्या यह संभव नहीं कि केवल दो घंटे रोज शारीरिक श्रम कराया जाय और बौद्धिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियोंके लिअे काफी फुरसतका समय छोड़ दिया जाय?”

“हम यह जानते हैं कि श्रमजीवी और मानसिक श्रम करनेवाले दोनों ही वर्गके लोग, जिन्हें कि यह सब फुरसतका समय मिलता है, उसका अच्छेसे अच्छा उपयोग नहीं करते। सच पूछो तो हमने भी अकसर ‘खाली दिमाग शैतानका घर’ की कहावत ही चरितार्थ होते देखी है।”

“नहीं, फुरसतका समय हम बेकार नहीं जाने देंगे। मान लीजिये, हम दिनमें दो घंटे तो शारीरिक श्रम करें और छह घंटे मानसिक श्रम, तो क्या यह राष्ट्रके लिअे हितकर न होगा?”

“मैं नहीं जानता कि आपकी अिस योजना पर कहां तक अमल हो सकेगा। मैंने अिसका हिसाब लगाकर तो नहीं देखा, पर अगर कोअी मनुष्य मानसिक श्रम राष्ट्रके लिअे नहीं बल्कि केवल अपने लाभके लिअे करेगा, तो मुझे अिसमें सन्देह नहीं कि यह योजना विफल ही होगी। हां, सरकार उसके दो घंटेके शरीर-श्रमके लिअे उसे काफी मजदूरी दे दे और फिर उसे बगैर कुछ दिये दूसरा काम करनेके लिअे मजबूर करे, तो अलबत्ता वह एक अच्छी चीज हो सकती है। पर वह तो सरकारकी अैसी जोर-जबरदस्तीकी आज्ञासे ही हो सकता है, जो सब पर अेकसी लागू हो।”

“अुदाहरणके लिअे, आप अपनेको ही ले लीजिये। आप आठ घंटेका शारीरिक श्रम तो रोज कर नहीं सकते। आठ घंटे या अिससे भी ज्यादा आपको मानसिक श्रम करना पड़ता है। आप अपने फुरसतके समयका दुरुपयोग तो नहीं करते?”

“यह तो अनिवार्य रूपसे करना पड़ता है। फुरसत अिसमें कहां है? अिस फुरसतमें मैं टेनिस वगैरा खेलने तो नहीं जाता। लेकिन अपने अुदाहरणको लेकर मैं आपसे यह कहूंगा कि अगर हम अपने हाथसे आठ घंटे रोज मेहनत करते होते, तो हमारी मानसिक शक्तियोंका अितना



अच्छा विकास होता कि जिसकी कोअी हद नहीं। हमारे मनमें अेक भी निरर्थक विचार न अुठता। यह बात नहीं कि मेरा मन निरर्थक विचारोंसे अेकदम मुक्त हो गया है। आज भी मेरी जो कुछ प्रगति है, वह अिस कारण है कि अपने जीवनमें बहुत पहले मैंने श्रमका महत्त्व जान लिया था।

“पर अगर शरीर-श्रमकी स्वभावतः अैसी महिमा है, तो हमारे यहांके लोग तो आठ घंटेसे भी ज्यादा मेहनत करते हैं। पर अिसका अुनकी मानसिक पवित्रता या दृढ़ता पर अैसा कोअी अुल्लेखनीय असर तो पड़ा नहीं है?”

“केवल शारीरिक या मानसिक श्रम अपने आपमें कोअी शिक्षा नहीं है। पर हमारे देशके लोग बिना समझे-बूझे जड़ यंत्रकी तरह सख्तसे सख्त मेहनत किये जाते हैं और अिससे अुनकी सूक्ष्म सहज बुद्धि निष्प्राण हो जाती है। यहीं मेरी सवर्ण हिन्दुओंसे जबरदस्त शिकायत है। श्रमजीवी वर्गके लोगोंको अुन्होंने जो काम दिया है वह सख्त और जलील मेहनतका है, जिसमें न तो अुन्हें कोअी आनन्द मिलता है और न कोअी दिलचस्पी ही होती है। अगर समाजमें वे सवर्ण हिन्दुओंकी बराबरीके समझे जाते, तो जीवनमें अुनका स्थान आज सबसे अधिक गौरवका होता। यह यूग तो ‘कलियुग’ समझा जाता है। सत्ययुगमें – यह मैं कह सकता हूं – हमारे समाजकी व्यवस्था वर्तमान युगसे कहीं अच्छी थी। हमारे प्राचीनतम देशमें कितनी ही सभ्यताअें आर्ीं और चली गर्ीं। अिसीलिअे यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि किसी खास युगमें हमारी कैसी स्थिति थी। लेकिन अिसमें तो जरा भी शक नहीं कि हमारी यह हालत शूद्रोंके प्रति कअी सदियोंसे अुपेक्षाका भाव रखनेसे ही हुअी है। आज गांवोंकी संस्कृति – अगर अुसे संस्कृति कहा जा सके – अेक भयंकर संस्कृति है। गांवके लोग आज जानवरोंसे भी बदतर हालतमें रहते हैं। प्रकृति जानवरोंको काममें लगाने और स्वाभाविक रीतिसे रहनेके लिअे मजबूर करती है। पर हमने अपने श्रमजीवी वर्गोंको ठुकराकर अितना नीचे गिरा दिया है कि वे प्राकृतिक रीतिसे न तो काम कर सकते हैं और न रह ही सकते हैं। अगर वे लोग बुद्धिका अुपयोग करके रसपूर्वक काम करते, तो हमारी हालत आज कुछ दूसरी ही होती।”

[श्री महादेव देसाअीके 'साप्ताहिक पत्र' नामक लेखसे]

हरिजनसेवक, १-८-१९३६; पृ० १९१-९२



८. श्रमकी प्रतिष्ठा

आप पूछ सकते हैं: “हमें अपने हाथोंका उपयोग क्यों करना चाहिये?” और कह सकते हैं: “शारीरिक कार्य तो जो अपढ़ हैं अनुसे करवाया जाना चाहिये। मैं तो केवल साहित्य और राजनीतिक लेखोंके पठनमें अपनेको व्यस्त रख सकता हूं।” मैं सोचता हूं कि हमें श्रमकी प्रतिष्ठाको पहचानना है। अगर अक नाअी या चमार कॉलेजमें जाता है, तो अुसे नाअी या चमारका धन्धा छोड़ नहीं देना चाहिये। मैं मानता हूँ कि नाअीका धन्धा अुतना ही अच्छा और अुपयोगी है जितना कि डॉक्टरका धन्धा है।

स्पीचेज़ अेण्ड राजिटिंग्ज ऑफ महात्मा गांधी, पृ. ३८९; १९३३

हमारे देशकी भयंकर गरीबी और बेकारी देखकर सचमुच कअी बार मुझे रुलाअी तक आ गअी है। मगर साथ ही मुझे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि हमारा अज्ञान और लापरवाही अिसके लिये बहुत हद तक जिम्मेवार है। हम असलमें यह जानते ही नहीं कि मेहनत करना कितने गौरवकी चीज है। मिसालके तौर पर, अक चमार सिवा जूते बनानेके और कोअी काम करना पसन्द नहीं करेगा; वह समझता है कि और सब काम नीचे हैं। यह गलत खयाल दूर हो जाना चाहिये । जो अीमानदारीके साथ अपने हाथ-पैरोंसे काम लेना चाहते हैं, अुनके लिये हिन्दुस्तानमें काफी काम पड़ा हुआ है। परमात्माने हरअक आदसीको अैसी शैक्ति और बुद्धि दे रखी है जिसकी मददसे वह अितना पैदा कर सकता है कि अुसके खाते-खाते भी बच जाय । और जो भी अपने अिन गुणोंसे काम लेना चाहेगा अुसे काम तो मिल ही जायगा। अीमानदारीके साथ अपनी रोजी कमानेकी अिच्छा रखनेवालेके लिये कोअी भी काम नीच नहीं है। सवाल यह है कि आदमी खुद अीश्वरके दिये हुअे हाथ-पैर हिलानेको तैयार है या नहीं?

हरिजनसेवक, १९-१२-१९३६; पृ. ३४५-४६

श्रम और बुद्धिके बीच जो अलगाव हो गया है, अुसके कारण हम अपने गांवोंके प्रति अितने लापरवाह हो गये हैं कि वह अक गुनाह ही माना जा सकता है। नतीजा यह हुआ है कि देशमें जगह-जगह सुहावने और मनभावने छोटे-छोटे गांवोंके बदले हमें घूरे जैसे गांव देखनेको



मिलते हैं। बहुतसे या यों कहिये कि करीब-करीब सभी गांवोंमें घुसते समय जो अनुभव होता है, उससे दिलको खुशी नहीं होती। गांवके बाहर और आसपास अितनी गंदगी होती है और वहां अितनी बदबू आती है कि अकसर गांवमें जानेवालेको आंख मूंदकर और नाक दबाकर ही जाना पड़ता है। ज्यादातर कांग्रेसी गांवके बाशिन्दे होने चाहिये; अगर ऐसा हो तो उनका फर्ज हो जाता है कि वे अपने गांवोंको सब तरहसे सफाईके नमूने बनायें। लेकिन गांववालोंके हमेशाके यानी रोज-रोजके जीवमनमें शरीक होने या उनके साथ घुलने-मिलनेको उन्होंने कभी अपना कर्तव्य माना ही नहीं। हमने राष्ट्रीय या सामाजिक सफाईको न तो जरूरी गुण माना, और न उसका विकास ही किया। यों रिवाजके कारण हम अपने ढंगसे नहा-भर लेते हैं, मगर जिस नदी, तालाब या कुओंके किनारे हम श्राद्ध या वैसी ही कोअी दूसरी धार्मिक क्रिया करते हैं और जिन जलाशयोंमें पवित्र होनेके विचारसे हम नहाते हैं, उनके पानीको बिगाड़ने या गन्दा करनेमें हमें कोअी हिचक नहीं होती। हमारी अिस कमजोरीको मैं अेक बड़ा दुर्गुण मानता हूं। अिस दुर्गुणका ही यह नतीजा है कि हमारे गांवोंकी और हमारी पवित्र नदियोंके पवित्र तटोंकी लज्जाजनक दुर्दशा और गन्दगीसे पैदा होनेवाली बीमारियां हमें भोगनी पड़ती हैं।

रचनात्मक कार्यक्रम, पृ० २७-२८; १९५९

गांधीजीने उन शिकायतोंका अुल्लेख किया जो उनके पास आती हैं: यहां जो शरणार्थी पड़े हैं, उनको खाना देते हैं, पीना देते हैं, पहननेको देते हैं। जो हो सकता है सब करते हैं, लेकिन वे मेहनत नहीं करना चाहते, काम नहीं करना चाहते। जो उन लोगोंकी खिदमत करते हैं, उन्होंने लम्बी-चौड़ी शिकायत लिखकर दी है। उसमें से मैं अितना ही कह देता हूं। मैंने तो कह दिया है कि अगर दुःख मिटाना चाहते हैं, दुःखमें से सुख निकालना चाहते हैं, दुःखमें भी हिन्दुस्तानकी सेवा करना चाहते हैं — उसके साथ अपनी सेवा तो हो ही जाती है — तो दुःखियोंको काम तो करना ही चाहिये। दुःखीको अैसा हक नहीं कि वह काम न करे और मौज-शौक करे। गीतामें तो कहा है, यज्ञ करो और खाओ — यज्ञ करो और जो शेष रह जाता है उसको खाओ। यह बात मेरे लिये है और आपके लिये नहीं अैसा नहीं है। यह सबके लिये है। जो दुःखी हैं उनके लिये भी है। अेक आदमी कुछ करे नहीं, बैठा रहे और खाये, यह चल नहीं सकता। करोड़पति भी काम न



करे और खाये, तो वह निकम्मा है, पृथ्वी पर भार है। जिसके पास पैसा है वह भी मेहनत करके खाये तभी काम बनता है। हां, कोअी लाचारी हो — आदमीके पैर नहीं चलते, अंधा है, वृद्ध हो गया है, तो अलग बात है। लेकिन जो तगड़ा है वह काम क्यों न करे? जो कोअी जो काम कर सकते हैं सो करें। शिविरोमें जो तगड़े लोग पड़े हैं। वे पाखाना भी अुठावें, चरखा चलावें, जो काम कर सकते हैं सो करें। जो लोग काम करना नहीं जानते वे लड़कोंको सिखावें। मैं तो अितना ही कहूंगा कि जितने शरणार्थी हैं वे काम करके खायें। अुन्हें काम करना ही चाहिये।

दिल्ली-डायरी, पृ० ३८८; १९६०



९. समाज-सेवाका सबसे अंचा प्रकार

ऐसा मालूम होता है कि 'ब्रेड लेबर' (रोटीके लिये परिश्रम, शरीर-श्रम) के सिद्धान्तके विषयमें कुछ गलतफहमी हो गयी है। यह सिद्धान्त समाज-सेवाका विरोधी तो है ही नहीं। बुद्धिपूर्वक किया हुआ श्रम अुच्चसे अुच्च प्रकारकी समाज-सेवा है। कारण यह है कि यदि कोयी मनुष्य अपने शारीरिक श्रमसे देशकी अुपयोगी संपत्तिमें बुद्धि करता है, तो अिससे अुत्तम और हो ही क्या सकता है? 'होना' निश्चय ही 'करना' है।

श्रमके साथ जो 'बुद्धिपूर्वक किया हुआ' विशेषण लगाया गया है, वह यह बतलानेके लिये लगाया गया है कि समाज-सेवामें श्रम तभी खप सकता है जब अुसके पीछे सेवाका कोयी निश्चित हेतु हो; नहीं तो यह कहा जा सकता है कि हरअेक मजदूर समाजकी सेवा करता है। अेक प्रकारसे तो वह समाजकी सेवा करता ही है, पर जिस सेवाकी यहां बात हो रही है वह बहुत अुंचे प्रकारकी सेवा है। जो मनुष्य सबके हितके लिये सेवा करता है वह समाजकी सेवा करता है, और जितनेसे अुसका पेट भर जाय अुतनी मजदूरी पानेका अुसे हक है। अिसलिये अिस प्रकारका 'ब्रेड लेबर' (शरीर-श्रम) समाज-सेवासे भिन्न नहीं है। अधिकांश मनुष्य जो काम अपने शरीरके पोषणके लिये या बहुत हुआ तो अपने कुटुम्बके लिये करते हैं, अुसे समाज-सेवक सबके हितके लिये करता है।

हरिजनसेवक, १४-६-१९३५; पृ० १३७

ग्रामोंकी ओर लौटनेका अर्थ यह है कि निश्चित रीतिसे शरीर-श्रमके धर्मको, अुसके सारे अंगोंके साथ, स्वेच्छापूर्वक स्वीकार कर लिया जाय । किन्तु आलोचक अिस पर यह कहते हैं कि "करोड़ों भारतवासी आज गांवोंमें ही तो रहते हैं, तो भी अिन बेचारोंको वहां पेट भर भोजन नसीब नहीं होता और वे भूखों मर रहे हैं।" बात तो बिलकुल सत्य है। सद्भाग्यसे हम यह जानते हैं कि वे स्वेच्छासे नियमका पालन नहीं कर रहे हैं। अगर अुनकी चलती तो ऐसा शारीरिक श्रम वे कभी न करते; बल्कि वे किसी बिलकुल पासके शहरकी ओर बसनेके लिये दौड़ते, अगर वहां अुनके लिये जगह होती। मालिकका हुक्म जब जबरदस्तीसे बजाया जाता है, तब अुसे परवशता या



दासताकी स्थिति कहते हैं। पिताकी आज्ञाका जब स्वेच्छासे पालन किया जाता है तब वह आज्ञा-पालन पुत्रत्वका गौरव बन जाता है। अिसी तरह शरीर-श्रमके नियमका बलात्कारपूर्वक पालन किया जायगा, तो अुससे दरिद्रता, रोग और असंतोषकी ही सृष्टि होगी। जब स्वेच्छासे अुस नियमका पालन किया जायगा, तब अुससे अवश्य ही संतोष और आरोग्यका लाभ होगा। और आरोग्य ही तो सच्चा धन है। चांदी-सोनेके ये टुकड़े सच्ची संपत्ति नहीं हैं।

हरिजनसेवक, ५-७-१९३५; पृ० १६०

अगर हरअेक आदमी अपने पसीनेकी कमाअी पर रहे, तो यह दुनिया स्वर्ग बन जाय। मनुष्यकी खास खूबियोंके अुपयोगके प्रश्न पर अलगसे विचार करनेकी बिलकुल जरूरत नहीं। अगर सब लोग रोटीके लिअे शरीर-श्रम करें, तो अुसका यह नतीजा होगा कि कवि, शायर, डॉक्टर, वकील वगैरा मनुष्यकी सेवाके लिअे अपनी अुन खूबियोंका मुफ्त अुपयोग करना अपना फर्ज समझेंगे। बिना किसी स्वार्थके अपना फर्ज अदा करनेके कारण अुनके कामका नतीजा और भी अच्छा होगा।

हरिजनसेवक, २-३-१९४७; पृ० ३९

यह देखा जाता है कि अिस दुनियामें मनुष्यको रोज जितना चाहिये अुतना अीश्वर रोज पैदा करता है। अुसमें से अगर कोअी अपनी आवश्यकतासे अधिक काममें लेता है, तो अुसके पड़ोसीको भूखा रहना ही पड़ेगा।

बहुत लोग अपनी आवश्यकतासे अधिक लेते हैं, अिसीलिअे दुनियामें भूखों मरनेकी नौबत आती है। हम कुदरतकी देनको किसी भी तरह काममें लें, फिर भी कुदरत तो रोज दोनों पलड़े बराबर ही रखती है। कुदरतके बहीखातेमें न तो जमामें कुछ बाकी रहता है न नामेमें। वहां तो रोज आमद-खर्चका हिसाब बराबर होकर शून्य ही बाकी रहता है। अिस शून्यमें हमें शून्यके समान बनकर समा जाना चाहिये।

अूपरके नियममें यह बात बाधक नहीं है कि कअी रसायनों और यंत्रोंके जरिये मनुष्य जमीनसे ज्यादा फसल पैदा करता है; अपनी मेहनतसे दूसरी तरह अनेक वस्तुअें अुत्पन्न करता



है। यह कुदरतकी शक्तियोंका रूपान्तर है। सबका आखिरी परिणाम तो शून्य ही होनेवाला है। मगर हमें रोज जो कुछ अनुभव होता है उसका पृथक्करण किया जाय, तो उससे यही अनुमान होता है कि दोनों पलड़े बराबर रहते हैं।

सत्याग्रह आश्रमका अतिहास, पृ० ४१-४२; १९५९

प्रारम्भसे ही मेरी यह दृढ़ श्रद्धा रही है कि जिस देशके वासियोंके लिये खेती ही एकमात्र अटूट और अटल सहारा है। जिसकी भी हम खोज करेंगे और देखेंगे कि जिसके सहारे कहां तक जाया जा सकता है। यदि हमारे लोग खादीके बदले खेतीमें विशारद होकर लोगोंकी सेवा करेंगे तो मुझे अफसोस नहीं होगा।

खादी : क्यों और कैसे? पृ० २३१; १९५९



१०. चरखेके साथ शरीर-श्रम

जैसे हममें से हरअेकको खुद खाना, पीना और कपड़े पहनना चाहिये, वैसे ही हममें से हरअेकको खुद कातना भी चाहिये।

यंग अिडिया, २८-५-१९२५; पृ० १८२

सबसे बड़ा अुद्योग, जिसमें करोड़ोंकी मेहनतकी जरूरत है, सूत-कताअी ही है। जरूरत अिस बातकी है कि अिस देशके किसानोंकी अत्यन्त बड़ी संख्याको बुद्धिसे किया जानेवाला अेक और काम दिया जाय, जिससे अुनके हाथ और दिमाग दोनोंको तालीम मिले। अुनके लिखे जो सबसे अच्छी और सस्ती शिक्षा ढूंढी जा सकती है वह यही है। सबसे सस्ती अिसलिअे कि अिससे तुरन्त ही आमदनी भी होने लगती है। और यदि हमें भारतवर्षमें सार्वजनिक शिक्षाका प्रचार करना है, तो प्राथमिक शिक्षा लिखाओ, पढ़ाओ और हिसाबकी न होकर सूत कातने और अुससे सम्बन्धित अन्य ज्ञानकी होगी। और जब अिसके जरिये हाथों और आंखोंको पूरी तालीम मिल जाती है, तब कहीं बालक अिन तीनोंको सीखनेके लिअे तैयार होता है। मैं जानता हूं कि यह कुछ लोगोंको तो असंभव और कुछको बिलकुल अव्यावहारिक मालूम होगा। मगर जो अैसा सोचते हैं वे हमारे करोड़ों भाअी-बहनोंकी हालत नहीं जानते। वे यह भी नहीं जानते कि हिन्दुस्तानके किसानोंके करोड़ों बच्चोंको शिक्षा देनेका क्या अर्थ है। और यह शिक्षा तब तक नहीं दी जा सकती जब तक शिक्षित भारतवासी, जिन्होंने अिस देशमें राजनीतिक जागृति पैदा नल, परिश्रमके गौरवको समझ नहीं लेते और जब तक हरअेक नौजवान चरखा चलानेकी कलाको सीखना और गांवोंमें फिरसे अुसे दाखिल करना अपना परम कर्तव्य नहीं मानता।

हिन्दी नवजीवन, ९-९-१९२६; पृ० २९

मैं देहातमें जितना गहरा घुसता हूं, अुतना ही बड़ा आघात देहातियोंसे मिलने पर अुनकी आंखोंमें सूनापन देखकर मुझे लगता है। अपने बैलोंके साथ मजदूरी करनेके सिवा अुनके पास और कोअी काम नहीं होता; अिसलिअे वे भी लगभग बैलों जैसे बन गये हैं। यह सबसे बड़े दुःखकी बात है कि लाखों लोगोंने हाथसे काम करना छोड़ दिया है। प्रकृतिने हम मानव-



प्राणियोंको जो कीमती वस्तु प्रदान की है, उसे बेदरिसे बरबाद करनेका दंड वह हमें भयंकर रूपमें दे रही है। हम जिस देनका पूरा उपयोग करनेसे अिन्कार करते हैं। हाथोंका बढ़िया यंत्र अुन थोड़ीसी वस्तुओंमें से अेक है, जो हमें जानवरोंसे अलग करता है। हममें से लाखों लोग हाथोंका सिर्फ पैरोंकी तरह ही अिस्तेमाल करते हैं। नतीजा यह होता है कि प्रकृति हमारे शरीर और मन दोनोंको भूखों मारती है।

अिस विचारहीन बरबादीको केवल चरखा ही रोक सकता है। यह काम वह अभी तुरन्त और रुपया या बुद्धिकी असाधारण पूंजी लगाये बिना ही कर सकता है। अिस बरबादीके कारण हम लगभग अधमरी हालतमें जी रहे हैं। चरखेंका पुनरुद्धार हो सकता है, अगर हर घर फिरसे कताअी का कारखाना बन जाय और हर गांव बुनाअीका कारखाना बन जाय। अिसके साथ साथ प्राचीन देहाती कला और देहाती संगीतका भी तुरन्त पुनरुद्धार हो जायगा। आधे पेट रहनेवाले राष्ट्रमें न तो धर्म हो सकता है, न कला हो सकती है; और न वह अपना संगठन ही कर सकता है।

यंग अिडिया, १७-२-१९२७; पृ० ५२

ग्रामसेवकके जीवनका मध्यबिन्दु चरखा होगा। खादीके पीछे यह विचार है कि वह खेतीका सहायक अुद्योग है और अुसके जितना ही व्यापक है। चरखेने हमारे जीवनमें अपना अुचित स्थान प्राप्त कर लिया है, अैसा तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक हम आलस्यको अपने गांवोंसे जड़से मिटा नहीं देते और गांवके प्रत्येक घरको अुद्योगोंसे गूंजा नहीं देते।

ग्रामसेवक गांवोंमें जाकर स्वयं नियमपूर्वक चरखा चलायेगा और सिर्फ सूत ही नहीं कातेगा, बल्कि अपनी जीविकाके लिअे बसूला और हथौड़ा चलायेगा, कुदाली और फावड़ा चलायेगा। या हाथ-पैरसे जो भी मेहनत हो सकेगी वह करेगा । खाने-पीने और सोनेके आठ घण्टोंके सिवा बाकीके समयमें वह किसी न किसी काममें लगा ही रहेगा। अपना अेक मिनट भी वह बेकार न जाने देगा। आलस्यको न तो वह अपने पास फटकने देगा और न दूसरोंके पास फटकने देगा । अुसका जीवन अपने पड़ोसियोंके लिअे निरन्तर चलनेवाले प्रसन्नता-वर्धक अुद्योगका नित्यपाठ देनेवाला होगा। हमारे बाहरसे लादे गये या स्वेच्छासे अपनाये गये आलस्यको



जाना ही होगा। अगर यह आल्स्य बिदा न हुआ तो कितनी ही सुविधायें क्यों न मिलें, देशके लोग भूखे ही रहेंगे, आज जैसी भूखकी सनातन समस्या सदा बनी ही रहेगी। जो अन्नके दो दाने खाता है, उसे चार दाने उपजानेका धर्म स्वीकार करना ही चाहिये। ऐसा अगर हो जाये तो दूसरे करोड़ों लोग भी हिन्दुस्तानमें पलने लगेंगे; और यह न हुआ तो जनसंख्या चाहे कितनी ही कम हो जाय, फिर भी भूखों मरनेवाले लोगोंका वर्ग तो देशमें बना ही रहेगा।

अिस प्रकार ग्रामसेवक अुद्योगका अेक जीता-जागता प्रतीक होगा।

हरिजनसेवक, ७-९-१९३४; पृ० २९३-९४



११. आश्रममें शरीर-श्रम

मुझ पर टॉल्स्टॉयका बहुत असर हुआ था, और अुनकी बातों पर यथासंभव अमल करना तो मैंने दक्षिण अफ्रीकामें ही शुरू कर दिया था। आश्रम कायम हुआ तभीसे रोटी-श्रमको अुसमें मुख्य स्थान मिला ।

दिनके अमुक घंटोंमें मेहनतके सिवा दूसरा काम न हो तो मेहनत जरूर होगी। भले ही अुसमें आलस्य हो, कार्य-दक्षता न हो, मन न हो, मगर कुछ घण्टे पूरे तो होंगे ही। फिर, कुछ मेहनत तुरन्त फल देनेवाली होती है, अिसलिअे अुसमें बहुत आलस्यकी गुंजाअिश भी नहीं रहती। श्रम-प्रधान संस्थाओंमें नौकर नहीं होते या थोड़े ही होते हैं। पानी भरना, लकड़ी फाड़ना, दियाबत्ती तैयार करना, पाखाने और रास्ते साफ करना, मकानोंकी सफाअी रखना, अपने अपने कपड़े धोना, रसोअी करना वगैरा अनेक काम अैसे हैं जो किये ही जाने चाहिये।

अिनके सिवा खेती, बुनाअी-काम, अुनसे सम्बन्धित और दूसरी तरहसे जरूरी बढ़अी-काम, गोशाला, चमार-काम वगैरा काम आश्रमके साथ जुड़े हुअे हैं। अुनमें थोड़े-बहुत आश्रमवासियोंके लगे बिना काम नहीं चल सकता।

ये सब काम रोटी-श्रमके नियम-पालनके लिअे काफी माने जायंगे। मगर यज्ञका दूसरा अंग परसार्थ या सेवाकी वृत्ति है। अुसे अिन कामोंमें शामिल करते वक्त आश्रमकी कमजोरी जरूर मालूम होगी । आश्रमका आदर्श सेवाके लिअे ही जीना है। अिस ढंगसे चलनेवाली संस्थामें आलस्यका, कामकी चोरीका स्थान नहीं है। वहां सब काम तन-मनसे होने चाहिये। सभी लोग अैसा करते तो आज आश्रमकी सेवाकी योग्यता बहुत बढ़ गयी होती। लेकिन अैसी सुन्दर स्थितिसे आश्रम अब भी बहुत दूर है। अिसलिअे यद्यपि आश्रमका हर काम यज्ञरूप है, फिर भी आदर्शका विचार करके दरिद्र-नारायणके लिअे कमसे कम अेक घण्टेकी कताअीको आवश्यक स्थान दिया गया है।

यह आरोप समय समय पर सुना गया है, और आज भी मैं सुना करता हूं, कि श्रम-प्रधान संस्थामें बुद्धिके विकासकी गुंजाअिश नहीं रहती, अिसलिअे वह जड़ बन जाती है। मेरा अनुभव



असिसे अलटा है। आश्रममें जितने भी लोग आये हैं, सभीकी बुद्धि कुछ तेज हुआ है; किसीकी मन्द हुआ हो ऐसा जाननेमें नहीं आया।

बहुत बार ऐसा मान लिया जाता है कि जगतकी अनेक घटनाओंका बाहरी ज्ञान ही बुद्धि है। मुझे यह कबूल करना पड़ेगा कि ऐसी बुद्धि आश्रममें कम विकसित होती है। लेकिन अगर बुद्धिका अर्थ समझ, विवेक वगैरा हो, तो वह आश्रममें काफी विकसित होती है। जहां मजदूरके रूपमें मेहनत सिर्फ गुजारेके लिये होती है, वहां मनुष्यका जड़ बन जाना संभव है। अमुक चीज किसलिये या किस तरह होती है, असिका ज्ञान उसे कोअी नहीं देता। उसे खुद असि विषयमें जिज्ञासा नहीं होती, न अपने काममें दिलचस्पी होती। आश्रममें असिसे अलटा होता है। हर काम - पाखाना-सफाअी तक - समझकर करना पड़ता है। उसमें दिलचस्पी ली जाती है। वह परमेश्वरको प्रसन्न करनेके लिये होता है। असिलिये उसे करते हुआे भी बुद्धिके विकासकी गुंजाअिश रहती है। सबको अपने अपने विषयका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेका प्रोत्साहन दिया जाता है। जो यह ज्ञान लेनेकी कोशिश नहीं करते, अुनके लिये वह दोष माना जाता है। आश्रममें या तो सभी मजदूर हैं या कोअी भी मजदूर नहीं है।

यह मानना कि किताबोंसे ही, मेज-कुर्सी पर बैठनेसे ही, ज्ञान मिलता है, बुद्धिका विकास होता है, हमारा घोर अज्ञान है, भारी वहम है। हमें तो असिमें से निकल जाना चाहिये। जीवनमें वाचनके लिये स्थान जरूर है, मगर वह अपनी जगह पर ही शोभा देता है। शरीर-श्रमको हानि पहुंचाकर उसे बढ़ाया जाय, तो असुके खिलाफ विद्रोह करना फर्ज हो जाता है। शरीर-श्रमके लिये दिनका ज्यादा समय देना चाहिये और वाचन वगैराके लिये थोड़ा। आजकल असि देशमें, जहां अमीर लोग या अुंचे वर्गके माने जानेवाले लोग शरीर-श्रमका अनादर करते हैं, शरीर-श्रमको अुंचा दरजा देनेकी बड़ी जरूरत है। और बुद्धिशक्तिको सच्चा वेग देनेके लिये भी शरीर-श्रमकी यानी किसी भी अुपयोगी शारीरिक धन्धेमें शरीरको लगानेकी जरूरत है।

सत्याग्रह आश्रमका अितिहास, पृ० ४२-४४; १९५९



१२. मेहनत नहीं तो खाना भी नहीं

भारतके कंगालोंकी हितैषिताने मुझे अितना कठोर-हृदय बना दिया है कि अुनके बिलकुल भिखमंगों बन जानेकी अपेक्षा मैं अुनका सर्वथा भूखों मर जाना खुशीसे पसंद करूंगा। मेरी अहिंसा किसी जैसे तन्दुरुस्त आदमीको मुफ्त खाना देनेका विचार बरदाश्त नहीं करेगी, जिसने अुसके लिअे अीमानदारीसे कुछ न कुछ काम न किया हो; और मेरा वश चले तो जिन सदाव्रतोंमें मुफ्त भोजन मिलता है, वे सब सदाव्रत मैं बन्द कर दूँ। अिससे राष्ट्रका पतन हुआ है, और सुस्ती, बेकारी, दंभ और अपराधोंको भी प्रोत्साहन मिला है। अिस प्रकारका अनुचित दान देशकी भौतिक या आध्यात्मिक सम्पत्तिकी कुछ भी वृद्धि नहीं करता और दाताके मनमें पुण्यात्मा होनेका झूठा भाव पैदा करता है। क्या ही अच्छी और बुद्धिमानीकी बात हो, यदि दानी लोग अैसी संस्थायें खोलें जहां अुनके लिअे काम करनेवाले स्त्री-पुरुषोंको स्वास्थ्यप्रद और स्वच्छ हालतमें भोजन दिया जाय। मेरा खुदका तो यह विचार है कि चरखा या कपाससे सम्बन्धित क्रियाओंमें से कोअी भी क्रिया आदशे धन्धा होगी। परन्तु अुन्हें यह स्वीकार न हो तो वे कोअी भी दूसरा काम चुन सकते हैं। जो भी हो, नियम यह होना चाहिये कि 'मेहनत नहीं तो खाना भी नहीं।' प्रत्येक शहरके लिअे भिखमंगोंकी अपनी-अपनी अलग कठिन समस्या है, जिसके लिअे धनवान जिम्मेदार हैं। मैं जानता हूँ कि आलसियोंको मुफ्त भोजन करा देना बहुत आसान है, परन्तु अैसी किसी संस्थाको संगठित करना बहुत कठिन है जहां किसीको खाना देनेसे पहले अुससे अीमानदारीसे काम कराना जरूरी हो। आर्थिक दृष्टिसे, कमसे कम शुरूमें, लोगोंसे काम लेनेके बाद अुन्हें खाना खिलानेका खर्च मौजूदा मुफ्तके भोजनालयोंके खर्चसे ज्यादा होगा। लेकिन मुझे पक्का विश्वास है कि यदि हम तेजीसे देशमें बढ़नेवाले आवारागर्द लोगोंकी संख्यामें वृद्धि नहीं करना चाहते, तो अन्तमें यह व्यवस्था अधिक सस्ती पड़ेगी।

यंग अिडिया, १३-८-१९२५; पृ. २८२

भीख मांगनेको प्रोत्साहन देना बेशक बुरा है, लेकिन मैं किसी भिखारीको काम और भोजन दिये बिना नहीं लौटाऊंगा। हां, वह काम करना मंजूर न करे तो मैं अुसे भोजनके बिना ही



चला जाने दूंगा। जो लोग शरीरसे लाचार हैं, जैसे लंगड़े या विकलांग, उनका पोषण राज्यको करना चाहिये। लेकिन बनावटी या सच्ची अंधताकी आड़में भी काफी धोखा-धड़ी चल रही है। कितने ही ऐसे अंधे हैं जिन्होंने अपनी अंधताका लोभ अुठाकर काफी पैसा जमा कर लिया है। वे अिस तरह अपनी अंधताका अनुचित लाभ अुठायें, अिसके बजाय यह ज्यादा अच्छा होगा कि अुन्हें अपाहिजोंकी देखभाल करनेवाली किसी संस्थामें रख दिया जाय।

हरिजन, ११-५-१९३५; पृ० ९९



१३. नौकरों पर अवलम्बन

घरेलू नौकरोंकी संस्था पुरानी है। परन्तु मालिकका नौकरोंके प्रति रवैया समय-समय पर बदलता रहा है। कुछ लोग नौकरोंको परिवारके आदमी समझते हैं और कुछ उन्हें गुलाम या जंगम सम्पत्ति मानते हैं। संक्षेपमें, सामान्यतः नौकरोंके प्रति समाजका जो रवैया होता है, वह अिन दो आत्यंतिक विचारोंके बीचमें आ जाता है। आजकल सब जगह नौकरोंकी बड़ी मांग है। अुन्हें अपने महत्त्वका पता लग गया है और अिसलिअे कुदरती तौर पर वे वेतन और नौकरीके बारेमें अपनी ही शर्ते रखते हैं। यदि अिसके साथ ही हमेशा अुन्हें अपने कर्तव्यका ज्ञान हो और वे अुसका पालन भी करें तो ठीक हो । अुस हालतमें वे नौकर नहीं रहेंगे और अपने लिअे परिवारके सदस्योंका दरजा प्राप्त कर लेंगे। परन्तु आजकल तो सबका हिंसामें विश्वास हो गया है। तब फिर नौकर अुचित ढंगसे अपने मालिकोंके परिवारके सदस्यका दर्जा कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यह प्रश्न अैसा है जो पूछा जा सकता है।

मेरी रायमें जो आदमी दूसरोंका सहयोग चाहता है और अुन्हें सहयोग देना चाहता है, अुसे नौकरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। यदि नौकरोंकी तंगीके वक्त किसीको नौकर रखना पड़ता है, तो अुसे मुंहमांगा वेतन देना पड़ता है और दूसरी सब शर्ते माननी पड़ती हैं। नतीजा यह होता है कि वह मालिक होनेके बजाय अपने नौकरका नौकर हो जाता है। यह न मालिकके लिअे अच्छा है, न नौकरके लिअे । परन्तु अगर किसी व्यक्तिको दूसरे मानव-बन्धुसे गुलामी नहीं बल्कि सहयोग चाहिये, तो वह न केवल अपनी ही सेवा करेगा बल्कि अुसकी भी करेगा जिसके सहयोगकी अुसे जरूरत है। अिस सिद्धान्तका विस्तार करनेसे मनुष्यका परिवार अुतना ही विज्ञाल हो जायगा जितना यह संसार है, और अपने मानव-बन्धुओंके प्रति अुसके रवैयेमें वैसा ही परिवर्तन हो जायगा। वांछित अुद्देश्यकी प्राप्तिा दूसरा कोअी मार्ग नहीं है।

जो अिस सिद्धान्त पर अमल करना चाहता है, वह छोटे-छोटे प्रारम्भ करके सन्तोष मान लेगा। मनुष्यमें हजारोंका सहयोग ले सकनेकी योग्यता होते हुअे भी अुसमें अितना संयम और स्वाभिमान होना ही चाहिये कि वह अकेला खड़ा रह सके। अैसा व्यक्ति कभी सपनेमें भी किसी



आदमीको अपना दास नहीं समझेगा और न उसे अपने नीचे दबा कर रखनेकी कोशिश करेगा। सच तो यह है कि वह बिलकुल भूल जायगा कि वह अपने नौकरोंका मालिक है और अन्हें अपने स्तर पर लानेकी पूरी कोशिश करेगा। दूसरे शब्दोंमें, जो चीज दूसरोंको नहीं मिल सके उसके बिना काम चलाकर उसे सन्तोष कर लेना चाहिये।

हरिजन, १०-३-१९४६; पृ. ४०

